

आँखें मूँदे कबूतर : यौनिकता की अभिव्यक्ति

निधि गुलाटी

यौनिकता की अभिव्यक्ति काफी जटिल मसला है। निधि गुलाटी का लेख हाल ही में स्कूलों में घटित कुछ वाक्यों का विवरण देते हुए बच्चों की यौनिकता के मसले पर चर्चा करता है। लेख यह सवाल उठाता है कि क्या हर यौन अभिव्यक्ति को शोषण या नैतिकता का हनन समझा जाए या फिर यह मानवीय विकास का एक पहलू भी है। लेख इतिहास की पड़ताल करते हुए बचपन की अवधारणा में हुए परिवर्तन, यौनिकता की अभिव्यक्ति और विकासात्मक पहलुओं में सम्बन्ध की भी पड़ताल करता है। साथ ही यह रेखांकित करता है कि शिक्षक शिक्षा में इस मसले पर कोई विमर्श नहीं है और यह भी कि शिक्षकों को यह समझ बनानी होगी कि वे पहले बच्चों की क्रियाओं व बातों को पूरी तरह समझें और फिर उस घटना के निहितार्थ को समझें और तय करें कि किसी ऐसी घटना के पीछे मुद्दा कितना गम्भीर है। कहाँ कुछ कदम लेने की ज़रूरत है और कहाँ यह सिर्फ विकासात्मक परिवर्तन की अभिव्यक्ति है। सं.

हाल ही में (जुलाई 2017) तिरुवनन्तपुरम के एक स्कूल में एक किशोर लड़के ने अपनी सहपाठी लड़की को आर्ट्स फेस्टिवल में उम्दा परफॉर्मेंस के लिए स्कूल की सीढ़ियों के पास आलिंगनबद्ध किया। स्कूल की शिक्षिका की शिकायत पर लड़के को स्कूल से निलम्बित कर दिया गया। लड़के ने स्कूल से आवेदन किया कि उसे बारहवीं कक्षा के इम्तिहान में बैठने दिया जाए। केरल कमीशन फॉर प्रोटेक्शन ऑफ चाइल्ड राइट्स ने लड़के के पक्ष में फैसला लिया, लेकिन दिसम्बर 2017 में हाईकोर्ट ने उसकी अर्जी नामंजूर कर दी। हाईकोर्ट का तर्क था कि स्कूल को हक़ है वो सभी काम रोकने का जिससे बच्चों की नैतिकता का हनन होता है। इस आलिंगन विवाद को लेकर मीडिया में काफी बहस सामने आयी। इस विवाद के बारे में जितना मैंने पढ़ा, उसमें कहीं भी यह तर्क नहीं था कि बच्चों (और किशोरों) की यौनिक

अभिव्यक्ति एक हद तक विकासात्मक भी हो सकती है। क्या कुछ व्यवहार विकास के नज़रिए से भी देखे जाने चाहिए? शोषण और स्वभाविक विकास के मामलों को अलग करना और उनमें फर्क करना ज़रूरी है, लेकिन यह विवेक लोकप्रिय चेतना में दिखता नहीं है।

शिक्षक-शिक्षा और उसके आसपास घटित ऐसे ही कुछ उदाहरण लेकर, यह पर्चा बच्चों की यौनिक अभिव्यक्ति पर ध्यान केन्द्रित करता है। बचपन की 'अयौनिक' परिभाषा की परतें खोलते हुए कुछ प्रश्न हमारे सामने आते हैं— क्या हमेशा से ही बच्चों को अयौनिक समझा जाता रहा है? भारत में यौनिकता किस प्रकार समझी जाती रही है? इन सवालों पर कुछ देर ठहरते हुए यह पर्चा यौनिकता के 'दमन' पर भी नज़र डालता है। इतिहास में 'दमन' की शुरुआत और बच्चे को 'अयौनिक' रूप से परिभाषित किया जाना— दोनों एक ही दौर में हुए। लगभग तभी

इस पर्चे में यौनिकता और सेक्सुआलिटी - दोनों ही शब्दों का प्रयोग किया है।

से सार्वभौमिक रूप से बच्चों के शरीर को निर्मल और मन को मासूम कहा जाने लगा।

शिक्षक-शिक्षा चाहे कितनी भी विकसित हो और भले ही समीक्षात्मक सिद्धान्तों से करीब से क्यों न जुड़ी हो, बच्चों के व्यवहार के इस पहलू को नज़रन्दाज़ करती रही है। इस नज़रन्दाज़ी को हम कैसे आँकें? अहम सवाल यह है कि शिक्षक-शिक्षा जहाँ जेण्डर से जुड़े प्रासंगिक मुद्दों पर गहरी नज़र डालती है, वहीं क्या वह बच्चों की यौनिकता 'सुलगते कोयले' को पकड़ पाने की क्षमता विकसित करने से अभी भी कतराती है ?

बच्चों में यौनिकता की अभिव्यक्ति

बच्चों की यौनिकता के सन्दर्भ में स्कूलों में और रोज़मर्रा के जीवन में जो घटित होता है उसी से कुछ वाकए यहाँ बयाँ कर रही हूँ। कुछ वर्ष पहले दिल्ली के मध्य में स्थित एक नर्सरी स्कूल में अवलोकन के दौरान हुई एक घटना है यह। इस नर्सरी स्कूल में बच्चों के शौचालय के बिलकुल बाहर थोड़ी-सी खाली जगह है। एक दिन वहाँ अचानक एक 4 वर्ष के लड़के ने लगभग अपनी ही उम्र की लड़की को नीचे धकेल दिया और खुद उस पर लेट गया। कुछ देर वह ऐसा ही रहा। नर्सरी स्कूल की एक शिक्षिका ने यह देखा और उन्हें एक दूसरे से अलग किया।

एक अलग वाकए में, एक प्राइवेट स्कूल में एक 10 वर्षीय छात्र, लड़कियों के बाथरूम में ताका झाँकी कर रहा था। शिकायत मिलने पर अध्यापिकाओं और प्रधानाध्यापिका ने उस बच्चे को आड़े हाथो लिया और उसे स्कूल से कुछ समय के लिए निलम्बित कर दिया गया।

एक विद्यार्थी-शिक्षिका ने साझा किया कि उसकी कक्षा में एक दिन अचानक कक्षा चार

की एक छात्रा फटे और बिलकुल भीगे कपड़ों में कक्षा में घुसी। बहुत पूछने पर छात्रा ने बताया कि उसी की कक्षा के एक छात्र ने गुस्से में ऐसा किया। वह आगे कुछ भी और नहीं बोलना चाहती थी। जब विद्यार्थी-शिक्षिका ने उसे और कुरेदा तो पता लगा कि एक लड़के ने उससे छेड़छाड़ की। लड़की के भाई ने उस लड़के की पिटाई की और इस जद्दोजहद में उसके कपड़े फट गए। उस पर जानबूझ कर पानी भी गिरा दिया। बच्चों के अनुसार उसने उस लड़की को गाल पर चूमा भी था। कामांग प्रदर्शन और बच्चों के कपड़े खींच लेना जैसी घटनाएँ भी प्राथमिक स्कूल में सामने आती हैं।

बच्चों की यौनिक अभिव्यक्तियों के बारे में खासकर भारत के सन्दर्भ में काफी कम लिखा गया है। न केवल पहले के समय में बल्कि वर्तमान में भी इस मसले पर काफी कम अध्ययन मिलता है। व्यवस्थित लेखन की इस कमी के चलते, इस पर्व में, मैं तीन स्रोतों से इस मुद्दे पर समझ बनाने की कोशिश करती हूँ: भारत के इतिहास से कुछ चयनित लेख जिनमें यौनिकता के प्रति उस समय की प्रथाओं पर कुछ दृष्टि मिलती है; पिछले तीन दशकों में हुए स्त्री-विमर्श के क्षेत्र में परिवार के इतिहास पर हुआ शोध; सिगमंड फ्रायड, माइकल फूको और फिलीप एरीज के सिद्धान्त और बाल-विकास की अवधारणाएँ, जो एक विस्तृत रूप से बचपन की यौनिकता की समझ पर नज़र डालती हैं। चूँकि बचपन की अवधारणा अपने मौजूदा रूप में पिछले दो सौ सालों में ही सुदृढ़ हुई है, इतिहास के ग्रंथ सीधे-सीधे बच्चों के बारे में नहीं लिखते। इस स्थिति में हम उस समय की व्यापक मान्यताओं का एक विस्तृत नज़रिया ही बना पाते हैं।

भारत के सन्दर्भ में यौनिकता पर रवैया कैसा

जो वाक्ये यहाँ दिए गए हैं उन्हें इस पर्व में शामिल किए जाने की पूर्व अनुमति घटना से सम्बन्धित व्यक्तियों से ले ली गई है। कोशिश की गई है कि किसी भी बच्चे या व्यक्ति की पहचान यहाँ जाहिर न हो।

यहाँ यह स्पष्टीकरण भी जरूरी है कि अठारह वर्ष से कम आयु के व्यक्ति को हम आज बच्चा कहते हैं। यह परिभाषा कानून के साथ-साथ व्यापक सांस्कृतिक, सामाजिक और मनोचिकित्सीय समझ से भी प्रेरित है। इतिहासकार लिखते हैं कि लगभग सौ साल पहले भी बारह या तेरह वर्ष की लड़की को शादी लायक माना जाता था। बचपन की श्रृंखला या कैटेगरी की सदस्यता बदलती रही है, जिससे इस विषय पर लिखना साफ-साफ तरीके से संभव नहीं है।

रहा है, अगला सेक्शन इस पर नज़र डालता है।

भारत में यौनिकता का इतिहास

तीसरी से बारहवीं शताब्दी के प्राचीन भारत में यौनिकता का दमन नहीं था। इस समय में लिखे गए 'कामसूत्र' और 'अनंग रंगा' (कल्याणमल्ला द्वारा लिखित) इस ओर संकेत करते हैं (कक्कर, 1990 ; श्रीवास्तव, 2001) (हालाँकि इन्हें ऊपरी सामाजिक वर्ग में ही पढ़ा जाता था)। दूसरी से चौथी शताब्दी के दौरान उत्तरी भारत में संकलित कामसूत्र में कामनाओं को एक शास्त्र की तरह वैधता मिलती है (रॉय, 1998, पृ. 54)। धर्म, अर्थ और काम, तीनों जीवन के अहम पहलू माने गए हैं। इस समय में यौनिकता को नैतिकता और धर्म के साथ सामंजस्य स्थापित करना पड़ा लेकिन यह अवरोध नहीं था (कक्कड़, 2016)। लगभग बारहवीं शताब्दी तक उन्मुक्त यौनिकता के काफी प्रमाण मिलते हैं, जिनमें शामिल हैं: आठवीं और नौवीं शताब्दियों की पहाड़ी चित्रकला, नौवीं और बारहवीं शताब्दियों के बीच बनी खुजराहो, बीकानेर और कोणार्क के मन्दिरों की शिल्पकृतियाँ।

क्रिड़ाभीरामामू, चौदहवीं शताब्दी में विनोकोंडा वल्लभार्य द्वारा लिखा गया तेलुगु नाटक भी इसी निरन्तरता की ओर संकेत करता है। यह नाटक वारंगल को एक ऐसे शहर के रूप में दिखाता है जहाँ प्रेम और यौनिक आनन्द खुले में दर्शाए जाते हैं (वल्लभार्य, 2002, पृ. 5)। अमेल लगने वाले लोग नाटक में कहीं जुड़े हुए व प्रदर्शित हैं, जैसे बीवियों और तवायफ़ों के बीच तुलना, व्यभिचारी पति पत्नी; मंदिर की ओर जाता हुआ एक व्यक्ति कामुक शब्द बोल रहा है आदि। इस समय यौनिक और धार्मिक दुनिया के बीच एक बड़ी खाई नहीं थी।

मध्यकालीन भारत में यौनिकता की झलक मुगल परिवार के 'हरम' से मिलती है। हालाँकि मान्यता यह है कि हरम में खुलेआम यौनिकता और आनन्द का माहौल था, इसके साथ-साथ लेखन में हरम को एक पवित्र स्थान माना गया है (मुखिया, 2004, पृ. 113)। मुगल परिवार के

विषय में हरबंस मुखिया लिखते हैं कि निकाह करते समय उम्र का खास खयाल नहीं रखा जाता था। पाँच से सात साल के बच्चों की सगाई कर दी जाती थी, और बारह वर्ष की उम्र में निकाह, यह रेकॉर्ड में है (पृ. 124)। इस समय में रूपचित्रों से इतिहास का अभिलेखन भी प्रचलित हुआ, और शाही रूपचित्र एक तरह का प्रोपेगेंडा ही थे (भार्गव, 2010 पृ. 8)। शाहजहाँ काफ़ी ध्यान रखते थे कि उनकी तस्वीरों में कपड़े, ज़ेवर और आकृतियाँ काफ़ी प्रतिरूपात्मक हों। इन तस्वीरों में शाही बीवियों, बेटियों या बहनों की तस्वीरें अलग से नहीं हैं, क्योंकि इन्हें आदमियों की नज़र से दूर रखा जाता था। कुछ ऐसे रूपचित्र जिनमें शाही औरतें नहीं थीं (जैसे गुफ-साफा) शरीर के सभी अंगों को प्रदर्शित करती हुई दिखाई गई हैं, महाँगे कपड़े और ज़ेवर होने के बावजूद (पृ. 123)। अठारहवीं शताब्दी तक मिनिएचर तस्वीरों में कुछ और बदलाव काफ़ी स्पष्ट दिखने लगते हैं जैसे हरम के माहौल में कामुकता है या अटेंडेंट्स के कपड़े झीने हैं।

रुबी लाल (2010) लिखती हैं कि बाबरनामा में बाबर एक केंप-बाज़ार के लड़के 'बाबरी' के प्रति काफ़ी आकर्षण और प्रेम महसूस करने के बारे में लिखते हैं। प्रेम में वे मानो पागल-से हो गए और सुध-बुध खोकर इधर-उधर घूमने लगे, ऐसा उन्होंने लिखा है (पृ. 235)। इस समय के आम परिवारों में 'स्टेट' ने कुछ मामलों में हस्तक्षेप किया, जिनके बारे में दिलबाग सिंह (2010) लिखते हैं। वे रेकॉर्ड में यौनिक शोषण के मामलों का लेखा-जोखा पाते हैं, जिसे 'चमचोरी' कहा जाता था। यह संकेत करता है कि मुगल साम्राज्य के समयकाल में परिवारों और सम्बन्धों में काफ़ी बदलाव आए थे, जिनमें अन्तरंगता और शरीर के प्रति 'नज़र' शामिल हैं।

पिछले दो सौ सालों में यौनिक उन्मुक्तता धीरे-धीरे विलुप्त हुई। इस विलोपन के काफ़ी स्पष्टीकरण मिलते हैं। कुछ व्याख्या, अंग्रेजों के शासन के दौरान, ईसाई धर्म के प्रभाव को इस बदलाव का ज़िम्मेदार मानती हैं, जहाँ यौनिक सम्बन्ध को पाप की तरह देखा जाता था, शुद्धता

पर ज़ोर था और शरीर के साथ एक अजीब सा रिश्ता था। कुछ और व्याख्याएँ मध्यकालीन मुस्लिम हुकूमत को इस का ज़िम्मेदार ठहराती हैं, क्योंकि इसी समय के रूपचित्रों में शरीर पूरे ढँके हुए दिखने लगे (कक्कड़, 1990, 2016)। हालाँकि मध्यकालीन इस्लाम में यौनिक अवरोधता नहीं थी, और (कम से कम) मर्दों को अपनी यौनिकता छुपानी नहीं पड़ती थी। यह कहा जा सकता है कि भारत पर ईसाई धर्म और मुग़ल साम्राज्य दोनों का ही अपना प्रभाव पड़ा। लेकिन हिन्दू संस्कृति में भी कामुकता को अस्वीकृत किया गया। जीवनशैली को राह दिखाने वाली दो तरह की विपरीत विचारधाराएँ हमेशा ही प्रचलित रहीं— कामुकता और योग; कभी एक ज़्यादा प्रभावी हुई कभी दूसरी। दोनों ही विचारधाराएँ साथ-साथ बर्दी, परन्तु अलग-अलग समय पर कोई एक हावी रही।

योग से जुड़ी एक अहम जीवनशैली ब्रह्मचर्य है, जिसे आध्यात्मिक प्रगति के लिए अहम माना गया है। हिन्दू जीवन को प्रेरित करने वाले यम और नियम दिए गए हैं, जिनमें परहेज़, स्वयं पर नियन्त्रण और प्रतिबन्ध शामिल हैं (कक्कड़, 2016)। ज़िन्दगी के शुरुआती सालों में बच्चों और युवकों को ब्रह्मचर्य अवस्था के अनुरूप अध्ययनशील रहना है, गुरु या समुदाय से शिक्षा और व्यवसाय का ज्ञान प्राप्त करना है और लड़कियों व औरतों से दूर रहना है। ब्रह्मचर्य का एक उदाहरण पहलवानों के जीवन से मिलता है। आल्टर (1992) लिखते हैं कि पहलवान और साधुओं के लिए यौनिकता से दूरी एक शारीरिक और नैतिक मूल्य माना जाता है। वे विस्तार से लिखते हैं कि एक पहलवान अखाड़े की मिट्टी को माँ मानता है, जिसकी गोद में वो हमेशा एक कुँवारा, असेक्सुअल (अकामुक) बच्चा ही है (पृ. 131)।

एक और अहम मान्यता है कि वीर्य ही खून, पसीना, हड्डियों का आसुत है और उसे बचा कर रखना जरूरी है। पहलवान वीर्य को जीवन का अमृत मानते हैं, और उसे ताकत, ज्ञान और क्षमताओं का स्रोत मानते हैं (आल्टर, 1992)।

संजय श्रीवास्तव (2001) भी लिखते हैं कि वीर्य बर्बाद करना मानो मर्दानगी खो देना है। वीर्य के प्रति ऐसी मान्यताएँ भारत के इतिहास से लेकर आज तक प्रचलित रही हैं। इसी वजह से आनन्द के लिए यौन खतरनाक माना जाता था क्योंकि इसमें वीर्य की बर्बादी है। इसी तरह मैथुन करना भी वीर्य की बर्बादी है, और ब्रह्मचर्य के मूल्यों के खिलाफ है। जो भी किशोर अखाड़े में आते थे उन्हें सिखाया जाता था कि वे अपनी दिनचर्या व्यस्त रखें, औरतों और लड़कियों को न देखें और कुछ भी महसूस होने पर हनुमान का ध्यान करें। हनुमान को उनकी सबसे अहम चारित्रिक विशेषता— ब्रह्मचर्य लिए ईष्ट माना जाता रहा।

किशोर लड़कों को वीर्य बचाना है, ऐसी मान्यताएँ लड़कियों/औरतों के सन्दर्भ में भी पाई जाती हैं। उपनिवेशी मद्रास के सन्दर्भ में आनंदी (1998) लिखती हैं, वैसे ही लड़कियों / स्त्रियों में अयौनिक 'रिप्रोडक्टिव' शरीर को आदर्श, आदर-योग्य देखा गया। यह संरचना पथभ्रष्ट और 'बदनाम यौनिकता' से बिलकुल विपरीत थी। बहुत से राजनैतिक संघ 'रिप्रोडक्टिव' बॉडी और 'सेक्सुअल' बॉडी (कामुक शरीर) को प्रतिद्वंद्वी के रूप से अभिव्यक्त करते थे। उपनिवेशी भारत में स्त्री-विमर्श की दृष्टि से लड़कियों पर काफी लिखा गया, जिसमें से 'एज ऑफ़ कॉर्सेंट' पर हुई बहस अहम है। 1891 में विधान (सेक्शन 375) पारित हुआ जिसके तहत 12 वर्ष से कम उम्र की लड़कियों के साथ यौन सम्बन्ध बनाना अवैध माना गया। इससे पहले यह उम्र 10 वर्ष थी। इस कानून को पारित करने में बहराम मालाबरी का हाथ था, जिन्हें यह प्रमाण देना पड़ा कि जल्दी शादी करना भारत के स्वर्णिम इतिहास में कहीं भी नहीं लिखा था। इसी समय में 1927 में कैथरीन मेयो ने 'मदर इंडिया' नाम की किताब में लिखा कि भारतीयों की यौनिक अधिकता ही उनकी राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक परेशानियों का कारण है। हिंदुओं की यौनिक विकृतियाँ ही उनकी कमज़ोर नस्ल का कारण हैं (सिन्हा, 1999, पृ. 213)। मेयो की थिसिस का असर हुआ कि 1929

में शारदा अधिनियम पारित हुआ, जिसके तहत यौन सम्बन्ध हेतु लड़कियों की न्यूनतम उम्र 14 साल और लड़कों की 16 साल तय कर दी गई। नारीवादी संगठनों द्वारा आन्दोलन करने पर 1949 में लड़कियों की उम्र बढ़ा कर 15 साल कर दी गई। 1982 में इसे 16 किया गया और 2013 में इसे 18 साल कर दिया गया।

1920 और 1930 के दशकों में शरीर और यौनिकता पर काफी बहस हुई, और इन मुद्दों को न तो दबाया गया और न ही यह सार्वजनिक दुनिया से अलग रखे गए, ऐसा संजम अलुवालिया लिखती हैं। इस समय में फादके और पिल्ले दो यौन-विज्ञानी थे जो यौनिकता के कुछ नियम तय करना चाहते थे, खासकर कामकाजी वर्ग के लिए। शोलापुर में पिल्ले एक 'बीवियों का क्लीनिक' चलाते थे, जिसमें केवल 18 साल से कम उम्र की स्त्रियों, कमजोर और बीमार स्त्रियों को ही वह गर्भ निरोध की जानकारी देते थे। गर्भ निरोध को स्कूली पाठ्यक्रम में शामिल करने पर भी पिल्ले ने काफी जोर दिया (अलुवालिया, 2010)।

इस तरह इतिहास में कहीं बचपन की छवि भी शामिल है, जिसका अध्ययन नहीं हुआ। इप्सिता पांडे इस पर चर्चा करती हैं। 1920 और 1930 के समय के इतिहासकारों ने स्त्री-विमर्श से प्रेरित हो 'चाइल्ड-वाइफ़' को बहस का मुद्दा बनाया, और इसी के द्वारा बचपन को रेखांकित किया (पांडे, 2013)। बाद के उपनिवेशी भारत के समय में उम्र की श्रेणी के चुनाव से यह स्पष्ट होता है कि किस तरह एक राजनैतिक सब्जेक्ट- 'बच्चे की श्रेणी' नाजायज़ सम्बन्धों के सन्दर्भ में ही निर्मित हुई (पृ 335)। पांडे तर्क देती हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में हुई बालिका-वधू की मौत को 'औरतों का मुद्दा' मान इतिहासकारों ने एक महत्वपूर्ण मौका खो दिया वह था 'चाइल्ड' सब्जेक्ट का।

अश्विनी तांबे (2009) और इप्सिता पांडे (2013) के तर्क प्रदर्शित करते हैं कि बच्चे की श्रेणी को इतिहासकारों ने नज़र अन्दाज़

किया। लेकिन मेरी समझ में यह एक चूक नहीं है क्योंकि वास्तव में इतिहास को उस समय प्रचलित श्रेणियों से ही समझना तर्कपूर्ण है। बचपन की हमारी आज की समझ जिसमें हम बच्चे को उत्पत्ति और प्रजनन (प्रोडक्शन और रीप्रोडक्शन) से दूर रखते हैं, यह समझ धीरे-धीरे ही व्यापक समाज में स्वीकार्य हुई है।

बचपन की 'अयौनिक' परिभाषा बाल विकास के दृष्टिकोण से

यदि मानव विकास के दृष्टिकोण से परखा जाये तो इंसान आजीवन सेक्सुअल या कामुक रहता है। यह यौनिकता अलग-अलग चरणों में अलग-अलग रूप से व्यक्त होती है। यौनिकता के जैविक और व्यावहारिक घटक होते हैं।

जन्म से बच्चों में लैंगिक प्रतिक्रिया मौजूद होती है, अनेक शोधकर्ताओं ने, डॉक्टरों ने और अभिभावकों ने ऐसा वर्णित किया है। शिशु बहुत ही सहज और स्वभाविक रूप से अपने जननांगों से 'खेलते' हैं। छह से नौ वर्ष की उम्र के बीच यह खेल धीरे-धीरे खुल्लमखुल्ला न रहकर चोरी-छुपे होने लग जाता है। शिशुओं और छोटे बच्चों के कुछ कामुक अनुभव होते हैं। साथ ही, इसी अवस्था में बच्चा अपनी सामाजिक लिंग-नारीत्व या पुरुषत्व की पहचान बना रहा होता है। बच्चे यह पहचान लगभग 3 साल की उम्र तक बना लेते हैं। साथ ही, अपने समाज के काफी कहे-अनकहे नियमों को भी वे आत्मसात करने लगते हैं। लगभग इसी उम्र से सामाजिक मानदण्डों के अनुसार बच्चों का जेण्डर समाजीकरण भी होता है। इससे बच्चे यह समझ पाते हैं कि पुरुष और स्त्रियों से कैसा व्यवहार अपेक्षित है (बुससे और बैनडुरा, 1999)।

तीन से सात वर्ष की उम्र में बच्चों की यौनिकता में रुचि बढ़ती है। बच्चे यह भी समझ पाते हैं कि पुरुष और स्त्री के बीच में लैंगिक फर्क होते हैं। इसी दौरान वे शादी और लम्बे समय तक चलने वाले रिश्तों की समझ बनाते हैं। साथ ही, घर-घर और डॉक्टर-डॉक्टर जैसे खेलों से वे वयस्कों की भूमिका और उत्तरदायित्व

को कुछ-कुछ समझ पाते हैं। बाल-विकास के क्षेत्र में हुए शोध में बार-बार यह निष्कर्ष निकला है कि खेल-खेल में शारीरिक छान-बीन करना करीब-करीब सार्वभौमिक ही है। अपने शरीर के बारे में जिज्ञासा, खुशी, सम्मोहन लगभग सभी महसूस करते हैं और यह सहज और स्वाभाविक भी है। पर सामाजिक डर से हमने इन सभी भावनाओं को कहीं कुचल सा दिया है। नतीजतन, वयस्क होने पर हम ऐसा ही मान लेते हैं कि हमारे खुद के बचपन में ऐसा कुछ था ही नहीं।

दरअसल हमने आधुनिक युग में बच्चे की जो छवि आत्मसात कर ली है— वह यह है कि वह बिल्कुल 'असेक्सुअल' (अयौनिक) और निर्मल हो और 18 वर्ष की आयु में पहुँचते ही वह यौनिक हो जाए— वो भी हेट्रोसेक्सुअल (दो विपरीत लिंगों में आपसी आकर्षण और सम्बन्ध के आधार)। वयस्कों और बच्चों के बीच की जो यह अजीब सी खाई है, यह साफ दिखती और महसूस की जाती है। इस फर्क में 5 और 17 साल के आयु के लोगों (बच्चों) को समान समझा जाता है, और 17 और 20 वर्ष के लोगों के बीच बहुत फर्क माना जाता है (हॉल्ट, 1974 /2010)। जब बच्चा वयस्क हो जाए तो हम अकस्मात ही उससे जिम्मेदार व्यवहार की उम्मीद करने लगते हैं, खासकर सेक्शुअलिटी के मामले में। कुछ भी सीखना धीरे-धीरे बढ़त के साथ होता है, यह समझ शायद कहीं यौनिकता के मामले में तो नहीं दिखती।

बचपन और यौनिकता

वयस्कों और बच्चों के बीच अलगाव के बारे में फिलिप एरीज़ (1962) ने लिखा है। बचपन और परिवार के सामाजिक इतिहास पर 'सेंचुरीस ऑफ चाइल्डहुड' में फिलिप एरीज़ लिखते हैं कि ऐसा हमेशा से नहीं था कि बच्चों को कम मूल्य दिया जाता हो, उन्हें अक्षम माना जाता हो। बारहवीं शताब्दी की यूरोपीय कला में बचपन नहीं था और न ही उसे दिखाने की कोशिश की जाती थी (पृ. 33)। तेरहवीं शताब्दी की कला में भी बच्चों की जगह केवल पुरुष

ही दिखते थे, एक छोटे अनुपात में बनाए गए (पृ 34)। पहले बच्चे इसी शताब्दी में 'एंजेल' के रूप में दिखने शुरू हुए। चौदहवीं शताब्दी से ईसु का बचपन दिखना शुरू हुआ (पृ 36)। पन्द्रहवीं और सोहलवीं शताब्दी से यह 'पावन बचपन' आम जनता के परिवारों को और उनके बच्चों को दिखाने लगा। सत्तरहवीं शताब्दी से बच्चे अकेले ही दिखाए जाने लगे (पृ 42)। यह बदलाव चित्रों का ही नहीं बल्कि विस्तृत समाज की झलक देता है।

यूरोप में अठारहवीं शताब्दी से पूर्व बच्चों को यौनिक मामलों से अलग नहीं रखा जाता था— यह एक महत्वपूर्ण फर्क है, जिसकी मदद से एरीज़ आधुनिक बचपन की अवधारणा की व्याख्या करते हैं। फ्रांस के नन्हें राजकुमार लुई XIII के समाजीकरण का उदाहरण देते हुए वे इस मामले पर प्रकाश डालते हैं। लुई के डॉक्टर, हेरोरर्ड एक डायरी लिखा करते थे जिसमें वे लुई के रोज़मर्रा के क्रियाकलापों और गतिविधियों के बारे में लिखते थे। उस समय के और राजकुमारों की तरह लुई भी नाच गाना, वाइलिन बजाना और टैनिस खेलना सीख रहा था। वह गुड़ियों से खेलता था, सैनिकों के साथ मजे करता था और जुआ भी खेला करता था। लुई की देख-रेख करने के लिए बहुत से नौकर-चाकर थे, एक आया भी था जिनके साथ लुई खुला और उन्मुक्त व्यवहार करता था। इस दौरान वह इन सभी अन्तःक्रियाओं से अपने शरीर के बारे में अनेक रहस्य खोज रहा था।

"लुई XIII अभी तक एक साल का नहीं हुआ था। जब उनकी आया ने उसके लिंग को अपनी उंगली से हिलाया तो वह ज़ोर से हँसने लगा। यह एक मज़ेदार शरारत थी जिसकी लुई ने जल्द ही नकल कर ली। एक सहायक को बुलाकर वह चिल्ला कर बोला 'सुनो, जरा' और अपना जामा उठा कर अपना लिंग दिखाने लगा।

वह एक साल का था, जब बहुत उत्तेजित होकर उसने सब से कहा कि वे उसका लिंग चूमें। इससे सब 'हँसने लगे' हेरोरर्ड अपनी

डायरी में लिखते हैं।” (पृ. 100)

लुई की जिन्दगी के शुरुआती तीन सालों में महल के सभी लोग बेहिचक होकर (लुई से) व्यवहार करते थे। लुई को पता था कि 'शिशु' कैसे बनते थे, और उसने अपने उन्मुक्त व्यवहार से दरबार में बहुत लोगों को हँसाया था (एरीज़, 1962)।

एरीज़, लुई और उस समय के आम बच्चों के बारे में जो विवरण देते हैं उस से साफ लगता है कि फ्रांस के मध्यकालीन समाज में बच्चों को यौनिक मामलों से अलग नहीं रखा जाता था। एरीज़ खास तौर से उन लड़कों के बारे में लिखते हैं जिनके साथ 7 साल की उम्र तक सभी लोग मस्ती करते थे। बच्चे एक मासूमियत की दुनिया में नहीं रहते थे। इसके विपरीत, एक लड़के से यह उम्मीद की जाती थी कि बहुत ही छोटी उम्र से ही वो वयस्क समाज में अपनी जगह बना लेगा। अभिभावक, आया, नौकर और अन्य कर्मचारी, बच्चों से उन्मुक्त व्यवहार करते थे। यौनिकता को जिन्दगी का प्राकृतिक और अहम हिस्सा माना जाता था। बच्चों से यौन सम्बन्धित बातें छुपाई नहीं जाती थीं। सत्रहवीं शताब्दी के बाद यह वास्तविकता बदलने लगी। अठारहवीं शताब्दी में बच्चों के साथ क्या व्यवहार यथोचित है, इस बारे में कड़े नियम स्थापित होने लगे। यह माना जाने लगा कि बच्चों को निम्न वर्ग के लोगों से और नौकरों से दूर रखना चाहिए। रवैये में इस बदलाव के साथ ही कुछ और बदलाव भी नज़र आने लगे। स्कूली व्यवस्था सुनियोजित होने लगी, बच्चों और वयस्कों को एक दूसरे से अलग रखना (विसंयोजन) और विद्यार्थियों में मठ या आश्रम के समान जीवन शैली ज़ोर पाने लगी।

इस सन्दर्भ में फ्रायड ने अपनी पुस्तक 'थ्री एस्सेस ऑन सेक्शुअलिटी' (1953) में और डॉ. एम फुर्स्ट को खुले पत्र में भी लिखा कि बच्चों से यौनिक जीवन की सच्चाई निश्चय ही छुपानी चाहिए (फ्रायड, 1953, पृ 133)। नन्हे हॉन्स का इलाज़ फ्रायड ने किया था और वह इस बारे में विस्तार से लिखते हैं। नन्हे हॉन्स का केस

फ्रायड के सबसे मशहूर केसों में से एक है। हॉन्स के पिता ने फ्रायड को चिट्ठियाँ लिखी; जिस पत्राचार के माध्यम से हॉन्स के पिता ने उसका इलाज़ किया। पाँच वर्षीय हॉन्स को घोड़ों से बहुत डर लगता था। एक बार जब हॉन्स ने एक घोड़े को सड़क पर भार की वजह से गिरते हुए देखा तब से उसे फोबिया या डर-सा हो गया और उसने अपने घर से बाहर निकलना भी बन्द कर दिया। इसी दौरान उसकी एक छोटी बहन भी पैदा हुई। फ्रायड लिखते हैं—

“मैं एक दिलचस्प लड़के को जानता हूँ, जो अब 4 साल का है। उसके नर्मदिल अभिभावक उसके विकास के किसी भी पहलू को दबाना नहीं चाहते। हॉन्स को किसी नर्स ने लुभाया तो नहीं है, पर उसे अपने एक अंग में खास रुचि है— जिसे वह 'विद्दलर' कहता है। जब वो तीन साल का था तब उसने अपनी माँ से पूछा कि क्या उनके पास भी 'विद्दलर' है, तो उसकी माँ ने जवाब दिया— हाँ है। यही सवाल उसने अपने पिता से भी किया। लगभग उसी उम्र में जब उसने पहली बार एक गाय को दुहते देखा तो वह ज़ोर से बोल उठा— 'देखो गाय के पास भी 'विद्दलर' है !'... सही मायने में अपने अवलोकनों के आधार पर हॉन्स वर्गीकरण कर रहा है।” (फ्रायड, 1953, पृ. 134-5)

यह माना जाने लगा था कि हॉन्स के डर का स्रोत घोड़ों के जननांगों से जुड़ा है। उपर्युक्त अनुच्छेद और विवरण में हॉन्स के ध्यान का केंद्र सेक्सुअल पाटर्न थे। फ्रायड इस अवस्था को 'फ्रेलिक' स्टेज (3-6 साल की आयु) मानते हैं। इस स्टेज में बच्चे 'ईडीपस कॉम्प्लेक्स' के संकेत दिखलाते हैं— जिस के तहत बच्चे अपनी माँ के प्यार को पाने के लिए अपने पिता से द्वेष महसूस करते हैं। उन्हें लगता है कि उनके पिता उन्हें अपनी माँ से दूर कर देंगे, और शायद इसके लिए उन्हें नपुंसक बना देंगे। यह डर ही इस अवस्था को परिभाषित करता है।

फ्रायड दावा करते हैं कि हॉन्स की जिज्ञासा बहुत सहज रूप से सामने आती है क्योंकि वह

अभी 'उत्पीड़ित' नहीं हुआ है। वह मज़लूम नहीं हुआ है और 'अपराध बोध' से परे है। अपराध बोध और शर्म से दूर रहने से ही हॉन्स की अपने शरीर के प्रति जिज्ञासा फलित हुई, ऐसा फ्रायड मानते हैं। लेकिन साथ ही यह कहा जा सकता है कि हॉन्स की कहानी इन सभी विचारों और भावनाओं के उद्गम की भी कहानी है (ड्रिसकल, गारलैंड एण्ड हिकी-मूडी, 2009)।

आगे चलकर फूको (1984) भी लिखते हैं कि वास्तव में हॉन्स की कहानी ने बच्चों की यौनिकता की समझ पर गहरा प्रभाव छोड़ा। यह माना जाता है कि सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियाँ यौनिक दमन का दौर थी। यौन सम्बन्धी बातचीत नहीं होती थी और उससे जुड़ी बातों और चीज़ों से भी परहेज किया जाता था। फूको 'हिस्ट्री ऑफ़ सेक्शुअलिटी' में इस धारणा का खण्डन करते हैं और तर्क देते हैं कि इस दौर में विभिन्न क्षेत्रों में अधिक से अधिक चर्चा, विवाद, ट्रीटीज़, विशेषज्ञों की राय आदि एकत्रित हुईं। बच्चों की यौनिकता के बारे में भी काफी बातचीत हुई। वे लिखते हैं कि यही वो समय था जब "धीरे-धीरे सेक्स के बारे में डिस्कोर्स शुरू हुए" ... और साथ ही, "सामाजिक संस्थाओं में सेक्स के बारे में ज़्यादा से ज़्यादा बात करने की उत्तेजना थी; और सत्ता की संस्थाएँ (या एजेंसियाँ) सेक्स के बारे में दृढ़ रूप से सुनना चाहती थीं, और उनकी कोशिश थी कि सेक्स की स्पष्ट अभिव्यक्ति और विस्तृत ब्योरा भाषा में हो (फूको, 1998, पृ. 18)।

शुरू में चिकित्सा-ज्ञान ने मानसिक परेशानियों पर नज़र डाली, फिर मनोरोग विज्ञान ने। इस नज़र में सेक्स की अधिकता की बात भी थी, फिर उस से जुड़ी कुंठाओं की, फिर धीरे-धीरे सभी यौनिक विकृतियाँ इसी नज़रिए से समझी जाने लगीं। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में छोटी से छोटी अश्लीलताएँ और मामूली विकृतियाँ भी मनोरोग विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में शामिल होने लगीं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक, दो लोगों के बीच की यौनिकता, अभिभावक और बच्चों के बीच के सम्बन्ध, किशोर के सम्बन्ध— सभी पर

सामाजिक नियन्त्रण नज़र आने लगे। ये नियन्त्रण तरह-तरह के खतरों से सुरक्षा, अलगाव और चेतावनी देते थे। लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ, तरह-तरह की रिपोर्ट बनी, थेरेपी और इलाज़ प्रचलित होने लगे, लक्षण देखकर बताना कि क्या रोग है, यह सभी इस नियंत्रण का हिस्सा थे (और हैं)। इन क्षेत्रों में यौनिकता से सम्बन्धित डिस्कोर्स प्रबल हुए जिससे लोगों में इस विषय को लेकर एक डर हमेशा रहने लगा। यह डर ही यौनिकता के बारे में और बातचीत करने की प्रेरणा बना (फूको, 1998: पृ. 31)।

द हिस्ट्री ऑफ़ सेक्शुअलिटी (1984) के शुरुआत में ही माइकल फूको तर्क देते हैं कि जिसे हम 'सेक्शुअलिटी' या यौनिकता समझते हैं वह वास्तव में विक्टोरियन बचपन की छवि पर आधारित है :

"सब जानते थे कि बच्चों में यौन (सेक्स) नहीं होता, इसलिए बच्चों के लिए उसके (सेक्स के) बारे में बातचीत करना वर्जित था। इसीलिए जब भी वे इसके विपरीत कुछ प्रमाण दर्शाते थे तो हम अपनी आँखें मूँद लेते थे और अपने कान बन्द कर लेते थे। और इसी कारण उस मुद्दे पर एक व्यापक और सोची-समझी चुप्पी थोपी जाती थी" (फूको, 1984, पृ. 4)।

यौनिकता की इस कहानी में बच्चों का स्थान कहाँ है, इस पर भी फूको ने अपने विचार रखे। वे "बच्चों के यौन शिक्षाशास्त्र" के बारे में लिखते हैं, जिसमें बच्चों की यौनिक सम्भावनाओं का अनुशासन और यौन सम्बन्धी खतरों से उनकी सुरक्षा शामिल हैं। "बच्चों के यौन शिक्षाशास्त्र" में फूको द्वारा चार युक्तियाँ प्रतिपादित जो यौन सम्बन्धित ज्ञान और सत्ता के विशिष्ट तरीकों को सम्मिलित करने वाली युक्तियाँ हैं। ज्ञान की इस समझ से नए यौनिक सब्जेक्ट सामने आए, जैसे हस्तमैथुन करने वाले किशोर।

फूको के अनुसार यह नज़रिया 'बायोपॉलिटिक्स' के लम्बे इतिहास को सूचित करता है। नैन्सी क्षेपर-हेग्स (1987) लिखती हैं कि प्रजनन (रिप्रोडक्शन) और यौनिकता, काम में और

फुर्सत में, बीमारी में या फिर किसी असामान्यता में शरीर के नियंत्रण और निगरानी को बॉडी-पॉलिटिक कहा जाता है। यह शरीर वैयक्तिक और सामूहिक दोनों ही हो सकते हैं। इस बॉडी-पॉलिटिक की स्थिरता जनता को नियंत्रित करने की क्षमता और वैयक्तिक शरीरों को अनुशासित करने की क्षमताओं पर निर्भर करती है।

जब भी सामाजिक व्यवस्था को खतरा महसूस होता है और शुद्धता से जुड़े मामलों के बारे में चिन्ता सामने आती है, चाहे वह यौनिक शुद्धता हो या रिवाजों की, तब सामाजिक और वैयक्तिक नियंत्रण और भी गहन हो जाता है। यह गम्भीरता, सामाजिक और शारीरिक दायरों के प्रति सतर्कता के रूप में सामने आती है (क्षेपर - हेग्स, 1987, पृ. 24)। फूको के कार्य को बॉडी पॉलिटिक में सम्मिलित किया जा सकता है। बच्चों के किसी भी व्यवहार से यदि सामाजिक दायरे का उल्लंघन सामने आता है, तो सभी सजग रूप से उस व्यवहार की निन्दा करते हैं, और कोशिश रहती है कि दायरा और भी कसा जाए।

प्रतिक्रियाएँ

तिरुवनन्तपुरम के आलिंगन मामले में, किशोर लड़के को अपनी बारहवीं कक्षा की परीक्षा नहीं लिखने दी गई और मामला कोर्ट तक पहुँच गया। स्कूल का कहना था कि ऐसी हरकतों से अनुशासन बिगड़ता है।

नर्सरी स्कूल का चार साल का बच्चा, जिसका उल्लेख इस पर्व की शुरुआत में है, उस घटना के तुरन्त बाद ही उस के अभिभावकों को इत्तला कर दी गई। जाँच पड़ताल से पता चला कि शायद बच्चे ने घर पर जो देखा उसी को स्कूल में दोहराया। ये उदाहरण दर्शाते हैं कि किस तरह बच्चों की हर यौनिक अभिव्यक्ति को बिलकुल असामान्य और गलत माना जाता है और ऐसी छोटी से छोटी घटना की प्रतिक्रिया में वयस्क बिलकुल व्यग्र हो उठते हैं।

अक्सर प्राथमिक कक्षाओं में ऐसे दृष्टान्त कुछ अधिक उद्घेलित कर देते हैं। इस भावात्मक

प्रतिक्रिया का स्रोत है कि हम बच्चों को भोला, मासूम और यौनिकता से परे समझते हैं। सामान्य समझ के अनुसार बच्चों को नादान और दुनिया की बुराईयों से, पाप और कामुकता से दूर होना चाहिए।

कहीं न कहीं बच्चों और शिक्षकों के बीच सेक्स पर चुप्पी ही 'इनसाइटमेंट टु डिस्कोर्स' है। एक ओर बच्चों की जिज्ञासा है, अपने आस पास खोजबीन करने की चाह है, भीतरी हसरतों को मूर्त रूप में बाहरी दुनिया में प्रकट करने की ज़रूरत है और दूसरी ओर वयस्कों की बच्चों के बारे में अवधारणा है कि वे यौनिकता से बिलकुल परे हैं। इन दोनों के बीच एक बड़ी खाई है। इस खाई को जब पाटना पड़ता है तब आरोप-प्रत्यारोप, अवहेलना, बदनामी, दोषारोपण दिखते हैं। जैसे ही वयस्क किसी उल्लंघन के बारे में सुनते हैं, या देखते हैं, तो तुरन्त ही दबी आवाज़ में उसके बारे में बातें करने लगते हैं- आपस में, मैसेज पर, अभिभावकों से, अपने साथियों से, सोशल मीडिया पर। हमारी नागरिकता सजग हो उठती है और शर्म का न होना अपराध के रूप में सामने आता है। मान्यता यह है कि यदि ऐसा कुछ सामने आए जिससे लगे कि बच्चे यौन और उसकी अभिव्यक्ति से पूर्णतः अनभिज्ञ नहीं हैं, और नैतिक रूप से श्रेष्ठ नहीं हैं तो ऐसी घटनाओं में वयस्कों को या तो डर लगना चाहिए या फिर दया आनी चाहिए, जैसे कि त्रासदी देखते समय होता है। एगन एण्ड हॉक्स (2009) लिखते हैं, "बच्चों में यौनिकता की संरचना कुछ भयानक और सामाजिक तौर पर अस्वीकार्य हो कर बाहरी उद्दीपन का नतीजा लगने लगती है, जिसके चलते किसी भी यौनिक अभिव्यक्ति को घृणास्पद करार दिया जाता है और वयस्कों द्वारा हस्तक्षेप की ज़रूरत के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है" (पृ. 389)।

ऐसी स्थितियों में अक्सर दबी आवाज़ों में सुनाई पड़ता है कि बच्चा अपने आसपास जो देखेगा वही तो सीखेगा- चाहे वह अभिभावकों से हो, परिवार से या फिर मीडिया से। इसी सन्दर्भ में नील पोस्टमेन (1985/1994) अपनी

किताब 'द डिसअपिअरेंस ऑफ चाइल्डहुड' में लिखते हैं, कि आजकल के माहौल और मीडिया दोनों में ही बच्चों को ऐसे सन्देश मिलते हैं जो उन्हें मासूमियत से दूर करते हैं और यही बचपन का अन्त है।

सामाजिक वर्ग और यौनिकता

कहना न होगा की मध्यमवर्गीय दृष्टिकोण और साथ ही यह मान्यता कि बच्चे यौनिकता की बुराई से दूर रहें— यह दोनों विचारधाराएँ एक दूसरे को सुदृढ़ करती हैं। नतीजतन, मध्यम-वर्गीय लोग समाज के निचले वर्ग में बच्चों के समाजीकरण को या कहें तो उसके अभाव को घिनौनी नज़रों से देखते हैं। क्योंकि एक कमरे के घर में बच्चों से कुछ भी बेपर्दा नहीं रह पाता है। किसका व्यवहार शर्मनाक है, किसका त्याग जा सकता है, किसको माफ कर दिया जाता है— यह इस पर निर्भर करता है कि 'कर्ता' कौन है और सन्दर्भ क्या है। प्रतिक्रिया इससे भी प्रभावित होती है कि किस सामाजिक वर्ग के बच्चे इस घटना में शामिल थे। मान्यता यह है कि क्योंकि निचले सामाजिक वर्ग के परिवार बुरे तरीके से बने मकानों में रहते हैं, या उनके अभिभावक लापरवाह हैं या वो सिर्फ ऊब गए हैं इसलिए बच्चों ने यौनिक व्यवहार किया।

निचले सामाजिक वर्ग के प्रति ऐसे रवैये से इतिहास में भी एक निरन्तरता सी रही है। कामसूत्र भी औरतों और निचले सामाजिक वर्ग के मर्दों के बनिस्पत, ऊपरी सामाजिक वर्ग के मर्दों की हेट्रोसेक्सुअल चाहतों को ही वैध करार देता है (राँय, पृ. 56)। उन्नीसवीं शताब्दी के समाज सुधारकों में भी कुछ ऐसे ही विचार सामने आते हैं। फादके का जिक्र ऊपर लेख में हुआ है। भारत के समक्ष सामाजिक स्थिति के सन्दर्भ में वे लिखते हैं "और अगर आप एक अंधेरे, मटमैले, धूल भरे मिल में काम करने वालों की झुग्गी-झोपड़ी में गए हों तो आप पाएँगे कि लगभग हर परिवार में या तो औरत माँ बनने वाली है या अभी हाल ही में बनी है। और फिर हमारी नज़र पड़ती है सड़क के उन लफंगों पर जो कूड़े के ढेर पर खाना ढूँढ़ते हैं और गटर

में सो जाते हैं। हम पाएँगे कि ये खुद बहुत से बच्चे पैदा करेंगे। हमें उस कुतिया की याद आती है जो साल में चार बार पिल्ले देती है" (नारायण सीताराम फादके, सेक्स प्रोब्लेम इन इंडिया, 1927; अलुवालिया 2010 से लिया गया)।

पिल्ले का जिक्र उपरलिखित टेक्स्ट में आया है। पिल्ले ने आग्रह किया कि नैतिक मूल्यों की शुरुआत घर से होनी चाहिए, जहाँ "नियमितता, आज्ञापालन, ज़मीर, खुद की सफाई और शरीर के प्रति आदर, संयम, शर्म और शुरुआती खेल"— यह सब सिखाया जाए। अभिभावकों की ज़िम्मेदारी है कि वे बच्चों को इसकी ट्रेनिंग दें (अलुवालिया, 2010, पृ. 109)। मध्यमवर्गीय अभिभावकों को सलाह दी जाती थी कि वे अपने बच्चों को नौकरों से दूर रखें क्योंकि नौकर उन्हें मैथुन और अन्य तरह की वर्जित यौनिक क्रियाएँ भी सिखा देंगे।

निचले वर्ग के लोग ही सभी सामाजिक परेशानियों का कारण हैं और उनके बच्चों का उत्थान सबसे ज़्यादा ज़रूरी है, क्योंकि बड़े होकर सेक्सुअल जुर्म अधिकतर वही करते हैं, ऐसी मान्यताएँ आज भी प्रचलित हैं। खासकर शिक्षकों को लगता है कि घर का माहौल, और रोज़ाना अपने आस-पास यौनिकता और हिंसा देख कर बच्चे इससे अभ्यस्त से हो गए हैं।

आँखें मूँदे शिक्षक-शिक्षा

इन मुद्दों पर हमारी सोच यह दर्शाती है कि किस तरह हमारी मान्यताएँ धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक सन्दर्भों से प्रेरित हुई हैं। सबसे पहले ज़रूरी है कि शिक्षक अपनी मान्यताओं को समझ लें और अपनी स्वयं की सहमति बना लें। बचपन की संस्था भी एक राजनीतिक रचना है चूँकि वह ही एक (अच्छा) बच्चा होने के नियम बनाती है। आधुनिक दुनिया में बचपन की संस्था में अभेद्य मासूमियत से और नैतिकता से ही प्रवेश मिलता है।

एक अतिनैष्ठिक (या प्यूरिटन) रुख बचपन की संस्था से आज भी करीबी जुड़ाव रखता है, पर हमारे भारतीय सन्दर्भ में 'दिव्य' रूप ज़्यादा

प्रचलित है। लगभग भारत के सभी हिस्सों में आज भी बच्चे को (खासकर लड़कों को) कृष्ण का रूप माना जाता है (साही 2018)। "इस दिव्यता का स्वरूप एक-आयामी या सरल न होकर, कुछ ऐसा जटिल है जिसमें मस्ती, तोड़-फोड़, खुशी, उत्सुकता, लाड़लापन, तेजस्विता और सृजनशीलता है" (साही, 2018, पृ 130)।

लेकिन इसके साथ ही यह भी माना जाता है कि वयस्कों की दुनिया से बच्चों को बिलकुल अलग-थलग रहना है, उनके काम-धन्धे, ज़िम्मेदारियों, व्यसनों, दुष्कर्मों से और मजे से भी। उत्साही (2010) अपने जीवन से दो-तीन उदाहरण देते हुए कहते हैं कि हमारे सन्दर्भ में "बाल्यावस्था में यौन विषयक चर्चा करना हमेशा विवाद का विषय रहा है"। शायद दिव्यता का वह रूप जहाँ कृष्ण गोपियों के साथ मस्ती करते थे, वह सिर्फ पूजनीय ही रह गया और परिवार और शिक्षा की आधुनिक संस्थाओं ने हमारे बच्चों के जीवन से इस मस्ती को दूर कर दिया।

वास्तव में, जब भी ऐसे कुछ वाकए सामने आते हैं, तो मैं और मेरे शिक्षक और विद्यार्थी साथी अपने आप को असमंजस में और अक्षम महसूस करते हैं। यह असमंजस क्यों होता है? ऐसा शायद इसलिए क्योंकि बच्चों की यौनिकता पर खुल कर बात करना काफी कठिन मामला है। अभिभावक और शिक्षक दोनों ही यह मानते हैं कि बच्चे असेक्सुअल होते हैं और जब भी उनका सामना बच्चों की किसी ऐसी हरकत या बातों से होता है तो वह उद्वेलित हो जाते हैं। वह अपने आप को सवालियों के जवाब देने में या फिर बच्चों के ऐसे व्यवहार को सम्बोधित करने में असक्षम महसूस करते हैं। दूसरा, वयस्क यह समझते हैं कि यौनिकता से सम्बन्धित किसी भी मामले की चर्चा खुले में नहीं, बल्कि बन्द दरवाज़ों में ही होनी चाहिए।

एक मायने में, शिक्षक-शिक्षा बिल्ली के डर से आँखें मीचे एक कबूतर के समान है। जेण्डर का डिस्कोर्स है तो सही, पर क्या उसमें यौनिकता शामिल है? देश में लागू विभिन्न पाठ्यक्रमों पर एक सरसरी निगाह दौड़ाई तो स्पष्ट रूप से

लगा कि हम इस मुद्दे पर समझ नहीं बनाते। भारत के सन्दर्भ में नेशनल करीक्यूलम फ्रेमवर्क फॉर टीचर एजुकेशन(2009) में आलेखित शिक्षक-शिक्षा के राष्ट्रीय पाठ्यक्रम में इस विषय की कोई भी चर्चा शामिल नहीं की गई है। सभी राज्यों के पाठ्यक्रम इसी ढाँचे पर आधारित हैं और निश्चय ही इनमें भी इस मुद्दे पर विमर्श नहीं है। इस चुप्पी से ही यौनिकता का 'डिसकरसिव' निर्माण होता है।

ऊपरलिखित चर्चा स्पष्ट करती है कि शिक्षक-शिक्षा को फील्ड में ऐसे उदाहरणों पर ध्यान देना चाहिए जो नीचे दिए मसलों को पलटने में मदद करें। पाठ्यक्रम, पाठ-विवरण और शिक्षाशास्त्र की इन मुद्दों पर चुप्पी है। दूसरा, बच्चे अयौनिक हैं या ऐसा कोई हल्का सा व्यवहार भी खतरे की घण्टी का सूचक है: ऐसी समझ हमारी आम ज़िन्दगी और शिक्षा में मौजूद है। तीसरा, ऐसी सत्ता का निर्माण जो केवल निषेध पर आधारित है, कक्षाओं में बच्चों का एक साथ बैठना और आपसी बातचीत भी निषेध कर देता है।

शिक्षक-शिक्षा में इन सभी के न तो आसान जवाब हैं और न ही ऐसी कोई जादू की पोटली है जिसमें से कुछ फुर-फुर निकले और आनन-फानन में मुद्दे से 'डील' कर ले। एक अहम बात यह है कि शिक्षकों को यह समझ बनानी होगी कि कहाँ मुद्दा गम्भीर है और कहाँ सिर्फ विकासत्मक। बच्चों की क्रियाओं को अन्वेषणात्मक, चंचलता-चपलता, या फिर सन्देहास्पद किस श्रेणी में रखना चाहिए, तय करने से पहले ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं, कि जो हुआ वह बहुत गलत है। हर घटना पर 'सोची-समझी' राय बनानी ज़रूरी है। क्या खेल-खेल में अन्वेषण हो रहा है या फिर कुछ गहन गम्भीर मुद्दा है। यह विवेक और बारीकी ज़रूरी है। 'मज़ा' क्या है और कैसे किसी और का अपमान और उल्लंघन कर मज़ा नहीं मिल सकता— यह बातें खोल पाना अत्यन्त आवश्यक है।

दूसरा, यह समझना कि बच्चों की यौनिकता

हमेशा से ही इस तरह नहीं देखी, समझी जाती रही है; बचपन की संरचना समय और स्थान पर आधारित है, यह जान लेने से हमारे नज़रिए में बदलाव आता है। उम्मीद है कि ऐसी मान्यताओं को खोलने के बाद शिक्षक और विद्यार्थी-शिक्षक अपने सहज विवेक से रचनात्मक तरीके से ऐसे मुद्दों पर अपनी प्रतिक्रिया देंगे, न कि केवल एक रिप्रेस्ड दृष्टिकोण से।

तीसरे, शिक्षक-शिक्षा के अनुभवों में मैंने यह पाया है कि अक्सर हम संज्ञान के दृष्टिकोण से मुद्दों को समझते परखते हैं। जब ऐसी कोई 'घटना' सामने आती है, वयस्क अक्सर निषेध की प्रतिक्रिया (एक दूसरे से दूर रहो, छुओ मत, लड़के-लड़कियाँ अलग ही रहेंगे) देते हैं। बच्चों की यौनिक अभिव्यक्ति चाहे जिस भी स्वरूप में रही हो, अभिभावक और शिक्षक शर्म, अस्वीकरण और निषेध के तहत ही समाधान खोज पाते हैं। यहाँ शर्म एक 'विजली की तार से बनी बाड़' की तरह है, जो दिखाती है कि किसी को बुरा 'महसूस कराना' वास्तव में उद्देश्यपूर्ण

है (टिवटचेल, 1998)। शायद वयस्कों के पास इस तरह की घटनाओं से निपटने के लिए भावात्मक उपकरण हैं ही नहीं। एक रास्ता यह भी है कि बच्चों के साथ हमारी प्रतिक्रिया खुद को संज्ञान और सामाजिक नीतिशीलता के भार से विमुक्त कर पाए और संवेदनात्मक, भावनात्मक या सौंदर्यपरक प्रतिक्रिया दे पाए।

जिस उद्वेलन की चर्चा हमने की, उसका हर पहलू इतना निराशाजनक नहीं है। शिक्षक-शिक्षा की यह ज़द्दोज़हद अपने आप में महत्वपूर्ण है और कहीं आधुनिकता में मानवीय हालातों (ह्यूमन कंडीशन) से जुड़ी है। पाठ्यक्रम और सीखने-सिखाने के ऐसे ही संघर्ष शायद शिक्षक-शिक्षा को उद्देश्यपूर्ण बनाते हैं। ऐसे मुद्दे शिक्षक-शिक्षा के लिए एक मुश्किल चुनौती भी हैं और वहीं एक उम्मीद भी कि इन घटनाओं के इर्द गिर्द जो चर्चा होती है वह हमें बच्चों की असल ज़िन्दगी को शामिल करने का और बचपन की समझ को गहरा करने का मौका देती है।

सन्दर्भ

- Ahluwalia, S. (2010), *Reproductive restraints : Birth control in India, 1877-1947*. Chicago: University of Illinois Press.
- Alter, J. S. (1992), *The wrestler's body: identity and ideology in North India*, Berkeley: University of California Press.
- Anandhi, S. (1998), *Reproductive Bodies and Regulated Sexuality: Birth control debates in early twentieth century Tamilnadu*. In Mary John and Janaki Nair (ed.), *A question of silence: the sexual economies of modern India*. New Delhi: Kali for women. pp. 139-166.
- Ariès, P. (1965), *Centuries of childhood: A social history of family life*. New York: Knopf
- Bussey, K., & Bandura, A. (1999), *Social cognitive theory of gender development and differentiation*. *Psychological review*, 106(4), 676- 713
- Driscoll, C., Garland, C. & Hickey-Moody, A. (2009), *(hetero)sexing the child: Hans, Alice and the Repressive Hypothesis*. In Frida Beckman (Ed.). (2011), *Deleuze and sex*. Edinburgh University Press.
- Egan, R. D., & Hawkes, G. (2009), *The problem with protection: Or, why we need to move towards recognition and the sexual agency of children*. *Continuum*, 23(3), 389-400.
- Foucault, M. (1978), *The history of sexuality*. Volume I. New York: Vintage.
- Freud, S. (1953), *Three essays on the theory of sexuality: the Standard Edition of the Complete Psychological Works of Sigmund Freud*. (1905) J. Strachey (trans and ed.). Hogarth Press. vol. 7, pp 125-245.
- हॉल्ट, जो (2010), *बचपन से पलायन* (पूर्व वाङ्मिक कुशवाहा द्वारा हिंदी अनुवाद) एकलव्य, भोपाल
- Kakar, S. (1990), *Intimate relations : exploring Indian sexuality*. Chicago: University of Chicago Press.
- Lal, R. (2010), *The 'domestic world' of Peripatetic Kings: Babur and Humayun, c. 1494-1556*. In Meena Bhargava (ed.) 2010, *Exploring Medieval India II : Culture, Gender, Regional Patterns*. Hyderabad : Orient Blackswan. pp 221-260

- Mukhia, H. (2004), *The Mughals of India*. Oxford: Wiley-Blackwell
- National Curriculum Framework for Teacher Education (2009). New Delhi: National Council for Teacher Education
- Pande, I. (2013), Listen to the child: Law, sex and the child-wife in Indian Hystography. *History Compass*. 11(9). 687-701
- Postman, N. (1985), *The disappearance of childhood*. *Childhood Education*, 61(4), 286-293.
- Roy, K. (1998), *Unravelling the Kamasutra*. In Mary John and Janaki Nair (ed.). *A question of silence: the sexual economies of modern India*. New Delhi: Kali for women. pp. 52-76
- Sahi, J. (2018), Bala Krishna: A Paradigm of childhood relevant to the present time. In T.S. Saraswathi, Shailaja Menon and Ankur Madan (Ed.) (2018), *Childhoods in India: Traditions, Trends and Transformations*. New Delhi: Routledge. pp 130-156
- Scheper-Hughes, N., & Lock, M. M. (1987). The mindful body: A prolegomenon to future work in medical anthropology. *Medical anthropology quarterly*, 1(1), 6-41.
- Singh, D. Regulating the domestic: notes on the precolonial state and the family. In Meena Bhargava (ed.) (2010). *Exploring Medieval India II: Culture, Gender, Regional Patterns*. Hyderabad: Orient Blackswan. pp 285-306
- Sinha, M. (1999). The Lineage of the 'Indian' Modern: Rhetoric, Agency and the Sarda Act in Late Colonial India. In A. Burton, (Ed.). (2005). *Gender, sexuality and colonial modernities*. London: Routledge. pp 207-21.
- Srivastava, S. Introduction: semen, history, desire and theory. In Sanjay Srivastava (ed.) (2004), *Sexual sites, seminal attitudes: Sexualities, masculinities and culture in South Asia*. New Delhi: Sage Publications. pp 11-48.
- Tambe, A. (2009), The state as surrogate parent: Legislating nonmarital sex in colonial India, 1911–1929. *The Journal of the History of Childhood and Youth*, 2(3), 393-427.
- Twitchell, J. B. (1998), *For shame: The loss of common decency in American culture*. Macmillan.
- उत्साही, राजेश. 2010, *बचपन में 'जहाँ' और भी है.....* पुस्तकायन. ब्लॉग पोस्ट दिनांक 30 अक्टूबर 2010 (http://padhatehue.blogspot.in/2010/10/blog-post_30.html)
- Vallabharāya, V., & Nārāyaṇarāvu, V. (2002), *A lover's guide to Warangal*. Narayana Rao and David Shulman (trans.) New Delhi: Permanent Black.
- Zutsi, V. (2016) An interview with Sudhir Kakar. 4th October 2016. www.scroll.in (accessed from <https://scroll.in/magazine/817637/india-has-been-a-sexual-wasteland-for-two-centuries-an-interview-with-psychoanalyst-sudhir-kakar>)

निधि गुलाटी पिछले दो दशक से शिक्षा एवं समाज के क्षेत्र में सक्रिय हैं। वर्तमान में इंस्टीट्यूट ऑफ होम इकोनॉमिक्स, दिल्ली विश्वविद्यालय में एलीमेंट्री एजुकेशन डिपार्टमेंट में बतौर प्राध्यापक कार्यरत हैं। सम्पर्क: nidhi.a.gulati@gmail.com